

## अवधूतगीता-( २ )

[ श्रीमद्भागवतमहापुराणके एकादश स्कन्धके अन्तर्गत भी एक अवधूतगीता प्राप्त होती है। श्रीकृष्ण-उद्धव-संवादके अन्तर्गत जो प्रख्यात अवधूतोपाख्यान आता है, उसीको अवधूतगीता भी कहते हैं। तीन अध्यायोंमें विस्तृत इस गीताके अन्तर्गत भगवान् अवधूत श्रीदत्तात्रेयद्वारा राजर्षि यदुको अपने चौबीस गुरुओंके नाम तथा उनसे प्राप्त शिक्षाओंका वर्णन है। छोटी-छोटी रोचक कथाओंके साथ निबद्ध उनके उपदेश अत्यधिक मार्मिक तथा हृदयग्राही हैं, जिन्हें सुनकर राजा यदु सभी आसक्तियोंसे मुक्त होकर सहज ही समदर्शी हो गये। इस गीताकी विषयवस्तु केवल विद्वानोंके बीच ही प्रसिद्ध नहीं है, अपितु लोकसंस्कृतिमें भी रच बस गयी है। इस अवधूतगीताको यहाँ सानुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है— ]

### पहला अध्याय

पृथ्वीसे लेकर कबूतरतक आठ गुरुओंकी कथा

श्रीभगवानुवाच

यदात्थ मां महाभाग तच्चिकीर्षितमेव मे।

ब्रह्मा भवो लोकपालाः स्वर्वासं मेऽभिकाङ्क्षिणः ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—महाभाग्यवान् उद्धव! तुमने मुझसे जो कुछ कहा है, मैं वही करना चाहता हूँ। ब्रह्मा, शंकर और इन्द्रादि लोकपाल भी अब यही चाहते हैं कि मैं उनके लोकोंमें होकर अपने धामको चला जाऊँ ॥ १ ॥

मया निष्पादितं ह्यत्र देवकार्यमशेषतः ।

यदर्थमवतीर्णोऽहमंशेन

ब्रह्मणार्थितः ॥ २ ॥

पृथ्वीपर देवताओंका जितना काम करना था, उसे मैं पूरा कर

चुका। इसी कामके लिये ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे मैं बलरामजीके साथ अवतीर्ण हुआ था ॥ २ ॥

**कुलं वै शापनिर्दग्धं नङ्क्ष्यत्यन्योन्यविग्रहात्।  
समुद्रः सप्तमेऽह्येतां पुरीं च प्लावयिष्यति ॥ ३ ॥**

अब यह यदुवंश, जो ब्राह्मणोंके शापसे भस्म हो चुका है, पारस्परिक फूट और युद्धसे नष्ट हो जायगा। आजके सातवें दिन समुद्र इस पुरी—द्वारकाको डुबो देगा ॥ ३ ॥

**यर्ह्येवायं मया त्यक्तो लोकोऽयं नष्टमङ्गलः।  
भविष्यत्यचिरात् साधो कलिनापि निराकृतः ॥ ४ ॥**

प्यारे उद्धव! जिस क्षण मैं मर्त्यलोकका परित्याग कर दूँगा, उसी क्षण इसके सारे मंगल नष्ट हो जायँगे और थोड़े ही दिनोंमें पृथ्वीपर कलियुगका बोलबाला हो जायगा ॥ ४ ॥

**न वस्तव्यं त्वयैवेह मया त्यक्ते महीतले।  
जनोऽधर्मरुचिर्भद्र भविष्यति कलौ युगे ॥ ५ ॥**

जब मैं इस पृथ्वीका त्याग कर दूँ, तब तुम इसपर मत रहना; क्योंकि साधु उद्धव! कलियुगमें अधिकांश लोगोंकी रुचि अधर्ममें ही होगी ॥ ५ ॥

**त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु।  
मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग् विचरस्व गाम् ॥ ६ ॥**

अब तुम अपने आत्मीय स्वजन और बन्धु-बान्धवोंका स्नेह-सम्बन्ध छोड़ दो और अनन्यप्रेमसे मुझमें अपना मन लगाकर समदृष्टिसे पृथ्वीमें स्वच्छन्द विचरण करो ॥ ६ ॥

**यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः।  
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम् ॥ ७ ॥**

इस जगत्में जो कुछ मनसे सोचा जाता है, वाणीसे कहा जाता है, नेत्रोंसे देखा जाता है और श्रवण आदि इन्द्रियोंसे अनुभव किया

जाता है, वह सब नाशवान् है। सपनेकी तरह मनका विलास है। इसलिये मायामात्र है, मिथ्या है—ऐसा समझ लो ॥ ७ ॥

**पुंसोऽयुक्तस्य नानार्थो भ्रमः स गुणदोषभाक् ।  
कर्माकर्मविकर्मैति गुणदोषधियो भिदा ॥ ८ ॥**

जिस पुरुषका मन अशान्त है, असंयत है, उसीको पागलकी तरह अनेकों वस्तुएँ मालूम पड़ती हैं; वास्तवमें यह चित्तका भ्रम ही है। नानात्वका भ्रम हो जानेपर ही 'यह गुण है' और 'यह दोष' इस प्रकारकी कल्पना करनी पड़ती है । जिसकी बुद्धिमें गुण और दोषका भेद बैठ गया है, दृढ़मूल हो गया है, उसीके लिये कर्म<sup>१</sup> अकर्म<sup>२</sup> और विकर्मरूप<sup>३</sup> भेदका प्रतिपादन हुआ है ॥ ८ ॥

**तस्माद् युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदं जगत् ।  
आत्मनीक्षस्व विततमात्मानं मय्यधीश्वरे ॥ ९ ॥**

इसलिये उद्धव ! तुम पहले अपनी समस्त इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लो, उनकी बागडोर अपने हाथमें ले लो और केवल इन्द्रियोंको ही नहीं, चित्तकी समस्त वृत्तियोंको भी रोक लो और फिर ऐसा अनुभव करो कि यह सारा जगत् अपने आत्मामें ही फैला हुआ है और आत्मा मुझ सर्वात्मा इन्द्रियातीत ब्रह्मसे एक है, अभिन्न है ॥ ९ ॥

**ज्ञानविज्ञानसंयुक्त आत्मभूतः शरीरिणाम् ।  
आत्मानुभवतुष्टात्मा नान्तरायैर्विहन्यसे ॥ १० ॥**

जब वेदोंके मुख्य तात्पर्य—निश्चयरूप ज्ञान और अनुभवरूप विज्ञानसे भलीभाँति सम्पन्न होकर तुम अपने आत्माके अनुभवमें ही आनन्दमग्न रहोगे और सम्पूर्ण देवता आदि शरीरधारियोंके आत्मा हो जाओगे, इसलिये किसी भी विघ्नसे तुम पीड़ित नहीं हो सकोगे; क्योंकि उन विघ्नों और विघ्न करनेवालोंकी आत्मा भी तुम्हीं होगे ॥ १० ॥

दोषबुद्धयोभयातीतो निषेधान् निवर्तते ।  
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः ॥ ११ ॥

जो पुरुष गुण और दोष-बुद्धिसे अतीत हो जाता है, वह बालकके समान निषिद्ध कर्मसे निवृत्त होता है, परन्तु दोष-बुद्धिसे नहीं। वह विहित कर्मका अनुष्ठान भी करता है, परन्तु गुणबुद्धिसे नहीं ॥ ११ ॥

सर्वभूतसुहृच्छान्तो ज्ञानविज्ञाननिश्चयः ।  
पश्यन् मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनः ॥ १२ ॥

जिसने श्रुतियोंके तात्पर्यका यथार्थ ज्ञान ही नहीं प्राप्त कर लिया, बल्कि उनका साक्षात्कार भी कर लिया है और इस प्रकार जो अटल निश्चयसे सम्पन्न हो गया है, वह समस्त प्राणियोंका हितैषी सुहृद् होता है और उसकी वृत्तियाँ सर्वथा शान्त रहती हैं। वह समस्त प्रतीयमान विश्वको मेरा ही स्वरूप—आत्मस्वरूप देखता है; इसलिये उसे फिर कभी जन्म-मृत्युके चक्करमें नहीं पड़ना पड़ता ॥ १२ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्यादिष्टो भगवता महाभागवतो नृप ।  
उद्धवः प्रणिपत्याह तत्त्वजिज्ञासुरच्युतम् ॥ १३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार आदेश दिया, तब भगवान्‌के परम प्रेमी उद्धवजीने उन्हें प्रणाम करके तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छासे यह प्रश्न किया ॥ १३ ॥

उद्धव उवाच

योगेश योगविन्यास योगात्मन् योगसम्भव ।  
निःश्रेयसाय मे प्रोक्तस्त्यागः संन्यासलक्षणः ॥ १४ ॥

उद्धवजीने कहा—भगवन्! आप ही समस्त योगियोंकी गुप्त पूँजी, योगोंके कारण और योगेश्वर हैं। आप ही समस्त योगोंके आधार, उनके कारण और योगस्वरूप भी हैं। आपने मेरे परम कल्याणके

लिये उस संन्यासरूप त्यागका उपदेश किया है ॥ १४ ॥

त्यागोऽयं दुष्करो भूमन् कामानां विषयात्मभिः ।

सुतरां त्वयि सर्वात्मन्नभक्तैरिति मे मतिः ॥ १५ ॥

परन्तु अनन्त ! जो लोग विषयोंके चिन्तन और सेवनमें घुल-मिल गये हैं, विषयात्मा हो गये हैं, उनके लिये विषय-भोगों और कामनाओंका त्याग अत्यन्त कठिन है। सर्वस्वरूप ! उनमें भी जो लोग आपसे विमुख हैं, उनके लिये तो इस प्रकारका त्याग सर्वथा असम्भव ही है—ऐसा मेरा निश्चय है ॥ १५ ॥

सोऽहं ममाहमिति मूढमतिर्विगाढ-

स्त्वन्मायया विरचितात्मनि सानुबन्धे ।

तत्त्वञ्जसा निगदितं भवता यथाहं

संसाधयामि भगवन्ननुशाधि भृत्यम् ॥ १६ ॥

प्रभो ! मैं भी ऐसा ही हूँ; मेरी मति इतनी मूढ़ हो गयी है कि 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' इस भावसे मैं आपकी मायाके खेल, देह और देहके सम्बन्धी स्त्री, पुत्र, धन आदिमें डूब रहा हूँ। अतः भगवन् ! आपने जिस संन्यासका उपदेश किया है, उसका तत्त्व मुझ सेवकको इस प्रकार समझाइये कि मैं सुगमतापूर्वक उसका साधन कर सकूँ ॥ १६ ॥

सत्यस्य ते स्वदृश आत्मन आत्मनोऽन्यं

वक्तारमीश विबुधेष्वपि नानुचक्षे ।

सर्वे विमोहितधियस्तव माययेमे

ब्रह्मादयस्तनुभृतो बहिरर्थभावाः ॥ १७ ॥

मेरे प्रभो ! आप भूत, भविष्य, वर्तमान इन तीनों कालोंसे अबाधित, एकरस सत्य हैं। आप दूसरेके द्वारा प्रकाशित नहीं, स्वयंप्रकाश आत्मस्वरूप हैं। प्रभो ! मैं समझता हूँ कि मेरे लिये

आत्मतत्त्वका उपदेश करनेवाला आपके अतिरिक्त देवताओंमें भी कोई नहीं है। ब्रह्मा आदि जितने बड़े-बड़े देवता हैं, वे सब शरीराभिमानी होनेके कारण आपकी मायासे मोहित हो रहे हैं। उनकी बुद्धि मायाके वशमें हो गयी है। यही कारण है कि वे इन्द्रियोंसे अनुभव किये जानेवाले बाह्य विषयोंको सत्य मानते हैं। इसीलिये मुझे तो आप ही उपदेश कीजिये ॥ १७ ॥

तस्माद्

भवन्तमनवद्यमनन्तपारं

सर्वज्ञमीश्वरमकुण्ठविकुण्ठधिष्यम् ।

निर्विण्णधीरहम्

ह

वृजिनाभितप्तो

नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये ॥ १८ ॥

भगवन्! इसीसे चारों ओरसे दुःखोंकी दावाग्निसे जलकर और विरक्त होकर मैं आपकी शरणमें आया हूँ। आप निर्दोष, देश-कालसे अपरिच्छिन्न, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और अविनाशी वैकुण्ठ-लोकके निवासी एवं नरके नित्य सखा नारायण हैं। (अतः आप ही मुझे उपदेश कीजिये) ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्त्वविचक्षणाः ।

समुद्धरन्ति

ह्यात्मानमात्मनैवाशुभाशयात् ॥ १९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धव! संसारमें जो मनुष्य 'यह जगत् क्या है? इसमें क्या हो रहा है?' इत्यादि बातोंका विचार करनेमें निपुण हैं, वे चित्तमें भरी हुई अशुभ वासनाओंसे अपने-आपको स्वयं अपनी विवेकशक्तिसे ही प्रायः बचा लेते हैं ॥ १९ ॥

आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः ।

यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते ॥ २० ॥

समस्त प्राणियोंका विशेषकर मनुष्यका आत्मा अपने हित और

अहितका उपदेशक गुरु है; क्योंकि मनुष्य अपने प्रत्यक्ष अनुभव और अनुमानके द्वारा अपने हित-अहितका निर्णय करनेमें पूर्णतः समर्थ है ॥ २० ॥

**पुरुषत्वे च मां धीराः सांख्ययोगविशारदाः ।  
आविस्तरां प्रपश्यन्ति सर्वशक्त्युपबृंहितम् ॥ २१ ॥**

सांख्ययोगविशारद धीर पुरुष इस मनुष्ययोनिमें इन्द्रियशक्ति, मनःशक्ति आदिके आश्रयभूत मुझ आत्मतत्त्वको पूर्णतः प्रकटरूपसे साक्षात्कार कर लेते हैं ॥ २१ ॥

**एकद्वित्रिचतुष्पादो बहुपादस्तथापदः ।  
बह्व्यः सन्ति पुरः सृष्टास्तासां मे पौरुषी प्रिया ॥ २२ ॥**

मैंने एक पैरवाले, दो पैरवाले, तीन पैरवाले, चार पैरवाले, चारसे अधिक पैरवाले और बिना पैरके—इत्यादि अनेक प्रकारके शरीरोंका निर्माण किया है। उनमें मुझे सबसे अधिक प्रिय मनुष्यका ही शरीर है ॥ २२ ॥

**अत्र मां मार्गयन्त्यद्वा युक्ता हेतुभिरीश्वरम् ।  
गृह्यमाणैर्गुणैर्लिङ्गैरग्राह्यमनुमानतः ॥ २३ ॥**

इस मनुष्य-शरीरमें एकाग्रचित्त तीक्ष्णबुद्धि पुरुष बुद्धि आदि ग्रहण किये जानेवाले हेतुओंसे जिनसे कि अनुमान भी होता है, अनुमानसे अग्राह्य अर्थात् अहंकार आदि विषयोंसे भिन्न मुझ सर्वप्रवर्तक ईश्वरको साक्षात् अनुभव करते हैं\* ॥ २३ ॥

\* अनुसन्धानके दो प्रकार हैं—(१) एक स्वप्रकाश तत्त्वके बिना बुद्धि आदि जड़ पदार्थोंका प्रकाश नहीं हो सकता। इस प्रकार अर्थापत्तिके द्वारा और (२) जैसे बसूला आदि औजार किसी कर्ताके द्वारा प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार यह बुद्धि आदि औजार किसी कर्ताके द्वारा ही प्रयुक्त हो रहे हैं। परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि आत्मा अनुमानिक है। यह तो देहादिसे विलक्षण त्वम् पदार्थके शोधनकी युक्तिमात्र है।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं

पुरातनम् ।

अवधूतस्य

संवादं

यदोरमिततेजसः ॥ २४ ॥

इस विषयमें महात्मालोग एक प्राचीन इतिहास कहा करते हैं। वह इतिहास परम तेजस्वी अवधूत दत्तात्रेय और राजा यदुके संवादके रूपमें है ॥ २४ ॥

अवधूतं

द्विजं

कञ्चिच्चरन्तमकुतोभयम् ।

कविं निरीक्ष्य तरुणं यदुः पप्रच्छ धर्मवित् ॥ २५ ॥

एक बार धर्मके मर्मज्ञ राजा यदुने देखा कि एक त्रिकालदर्शी तरुण अवधूत ब्राह्मण निर्भय विचर रहे हैं। तब उन्होंने उनसे यह प्रश्न किया ॥ २५ ॥

यदुरुवाच

कुतो बुद्धिरियं ब्रह्मन्कर्तुः सुविशारदा ।

यामासाद्य भवाँल्लोकं विद्वांश्चरति बालवत् ॥ २६ ॥

राजा यदुने पूछा—ब्रह्मन्! आप कर्म तो करते नहीं, फिर आपको यह अत्यन्त निपुण बुद्धि कहाँसे प्राप्त हुई? जिसका आश्रय लेकर आप परम विद्वान् होनेपर भी बालकके समान संसारमें विचरते रहते हैं ॥ २६ ॥

प्रायो धर्मार्थकामेषु विवित्सायां च मानवाः ।

हेतुनैव समीहन्ते आयुषो यशसः श्रियः ॥ २७ ॥

ऐसा देखा जाता है कि मनुष्य आयु, यश अथवा सौन्दर्य-सम्पत्ति आदिकी अभिलाषा लेकर ही धर्म, अर्थ, काम अथवा तत्त्व-जिज्ञासामें प्रवृत्त होते हैं; अकारण कहीं किसीकी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती ॥ २७ ॥

त्वं तु कल्पः कविर्दक्षः सुभगोऽमृतभाषणः ।

न कर्ता नेहसे किञ्चिज्जडोन्मत्तपिशाचवत् ॥ २८ ॥

मैं देख रहा हूँ कि आप कर्म करनेमें समर्थ, विद्वान् और निपुण



हैं। आपका भाग्य और सौन्दर्य भी प्रशंसनीय है। आपकी वाणीसे तो मानो अमृत टपक रहा है। फिर भी आप जड़, उन्मत्त अथवा पिशाचके समान रहते हैं; न तो कुछ करते हैं और न चाहते ही हैं ॥ २८ ॥

**जनेषु दह्यमानेषु कामलोभदवाग्निना ।**

**न तप्यसेऽग्निना मुक्तो गङ्गाम्भःस्थ इव द्विपः ॥ २९ ॥**

संसारके अधिकांश लोग काम और लोभके दावानलसे जल रहे हैं। परन्तु आपको देखकर ऐसा मालूम होता है कि आप मुक्त हैं, आपतक उसकी आँच भी नहीं पहुँच पाती; ठीक वैसे ही जैसे कोई हाथी वनमें दावाग्नि लगनेपर उससे छूटकर गंगाजलमें खड़ा हो ॥ २९ ॥

**त्वं हि नः पृच्छतां ब्रह्मन्नात्मन्यानन्दकारणम् ।**

**ब्रूहि स्पर्शविहीनस्य भवतः केवलात्मनः ॥ ३० ॥**

ब्रह्मन्! आप पुत्र, स्त्री, धन आदि संसारके स्पर्शसे भी रहित हैं। आप सदा-सर्वदा अपने केवल स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं। हम आपसे यह पूछना चाहते हैं कि आपको अपने आत्मामें ही ऐसे अनिर्वचनीय आनन्दका अनुभव कैसे होता है? आप कृपा करके अवश्य बतलाइये ॥ ३० ॥

*श्रीभगवानुवाच*

**यदुनैवं महाभागो ब्रह्मण्येन सुमेधसा ।**

**पृष्टः सभाजितः प्राह प्रश्रयावनतं द्विजः ॥ ३१ ॥**

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धव! हमारे पूर्वज महाराज यदुकी बुद्धि शुद्ध थी और उनके हृदयमें ब्राह्मणभक्ति थी। उन्होंने परमभाग्यवान् दत्तात्रेयजीका अत्यन्त सत्कार करके यह प्रश्न पूछा और बड़े विनम्रभावसे सिर झुकाकर वे उनके सामने खड़े हो गये। अब दत्तात्रेयजीने कहा ॥ ३१ ॥

ब्राह्मण उवाच

सन्ति मे गुरवो राजन् बहवो बुद्ध्युपाश्रिताः ।

यतो बुद्धिमुपादाय मुक्तोऽटामीह ताञ्छृणु ॥ ३२ ॥

ब्रह्मवेत्ता दत्तात्रेयजीने कहा—राजन्! मैंने अपनी बुद्धिसे बहुत-से गुरुओंका आश्रय लिया है, उनसे शिक्षा ग्रहण करके मैं इस जगत्में मुक्तभावसे स्वच्छन्द विचरता हूँ। तुम उन गुरुओंके नाम और उनसे ग्रहण की हुई शिक्षा सुनो ॥ ३२ ॥

पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः ।

कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद् गजः ॥ ३३ ॥

मधुहा हरिणो मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः ।

कुमारी शरकृत् सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत् ॥ ३४ ॥

मेरे गुरुओंके नाम हैं—पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतंग, भौंरा या मधुमक्खी, हाथी, शहद निकालनेवाला, हरिन, मछली, पिंगला वेश्या, कुरर पक्षी, बालक, कुँआरी कन्या, बाण बनानेवाला, सर्प, मकड़ी और भृंगी कीट ॥ ३३-३४ ॥

एते मे गुरवो राजंश्चतुर्विंशतिराश्रिताः ।

शिक्षा वृत्तिभिरेतेषामन्वशिक्षमिहात्मनः ॥ ३५ ॥

राजन्! मैंने इन चौबीस गुरुओंका आश्रय लिया है और इन्हींके आचरणसे इस लोकमें अपने लिये शिक्षा ग्रहण की है ॥ ३५ ॥

यतो यदनुशिक्षामि यथा वा नाहुषात्मज ।

तत्तथा पुरुषव्याघ्र निबोध कथयामि ते ॥ ३६ ॥

वीरवर ययातिनन्दन! मैंने जिससे जिस प्रकार जो कुछ सीखा है, वह सब ज्यों-का-त्यों तुमसे कहता हूँ, सुनो ॥ ३६ ॥

भूतैराक्रम्यमाणोऽपि धीरो दैववशानुगैः ।  
तद् विद्वान् चलेन्मार्गादन्वशिक्षं क्षितेर्व्रतम् ॥ ३७ ॥

मैंने पृथ्वीसे उसके धैर्यकी, क्षमाकी शिक्षा ली है। लोग पृथ्वीपर कितना आघात और क्या-क्या उत्पात नहीं करते; परन्तु वह न तो किसीसे बदला लेती है और न रोती-चिल्लाती है। संसारके सभी प्राणी अपने-अपने प्रारब्धके अनुसार चेष्टा कर रहे हैं, वे समय-समयपर भिन्न-भिन्न प्रकारसे जान या अनजानमें आक्रमण कर बैठते हैं। धीर पुरुषको चाहिये कि उनकी विवशता समझे, न तो अपना धीरज खोये और न क्रोध करे। अपने मार्गपर ज्यों-का-त्यों चलता रहे ॥ ३७ ॥

शश्वत्परार्थसर्वेहः परार्थैकान्तसम्भवः ।  
साधुः शिक्षेत भूभृत्तो नगशिष्यः परात्मताम् ॥ ३८ ॥

पृथ्वीके ही विकार पर्वत और वृक्षसे मैंने यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे उनकी सारी चेष्टाएँ सदा-सर्वदा दूसरोंके हितके लिये ही होती हैं, बल्कि यों कहना चाहिये कि उनका जन्म ही एकमात्र दूसरोंका हित करनेके लिये ही हुआ है, साधु पुरुषको चाहिये कि उनकी शिष्यता स्वीकार करके उनसे परोपकारकी शिक्षा ग्रहण करे ॥ ३८ ॥

प्राणवृत्त्यैव सन्तुष्येन्मुनिर्नैवेन्द्रियप्रियैः ।  
ज्ञानं यथा न नश्येत नावकीर्येत वाङ्मनः ॥ ३९ ॥

मैंने शरीरके भीतर रहनेवाले वायु—प्राणवायुसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे वह आहारमात्रकी इच्छा रखता है और उसकी प्राप्तिसे ही सन्तुष्ट हो जाता है, वैसे ही साधकको भी चाहिये कि जितनेसे जीवन-निर्वाह हो जाय, उतना भोजन कर ले। इन्द्रियोंको तृप्त करनेके लिये बहुत-से विषय न चाहे। संक्षेपमें उतने ही विषयोंका उपयोग

करना चाहिये, जिनसे बुद्धि विकृत न हो, मन चंचल न हो और वाणी व्यर्थकी बातोंमें न लग जाय ॥ ३९ ॥

**विषयेष्वाविशन् योगी नानाधर्मेषु सर्वतः ।  
गुणदोषव्यपेतात्मा न विषज्जेत वायुवत् ॥ ४० ॥**

शरीरके बाहर रहनेवाले वायुसे मैंने यह सीखा है कि जैसे वायुको अनेक स्थानोंमें जाना पड़ता है, परन्तु वह कहीं भी आसक्त नहीं होता, किसीका भी गुण-दोष नहीं अपनाता, वैसे ही साधक पुरुष भी आवश्यकता होनेपर विभिन्न प्रकारके धर्म और स्वभाववाले विषयोंमें जाय, परन्तु अपने लक्ष्यपर स्थिर रहे। किसीके गुण या दोषकी ओर झुक न जाय, किसीसे आसक्ति या द्वेष न कर बैठे ॥ ४० ॥

**पार्थिवेष्विह देहेषु प्रविष्टस्तद्गुणाश्रयः ।  
गुणैर्न युज्यते योगी गन्धैर्वायुरिवात्मदृक् ॥ ४१ ॥**

गन्ध वायुका गुण नहीं, पृथ्वीका गुण है। परन्तु वायुको गन्धका वहन करना पड़ता है। ऐसा करनेपर भी वायु शुद्ध ही रहता है, गन्धसे उसका सम्पर्क नहीं होता। वैसे ही साधकका जबतक इस पार्थिव शरीरसे सम्बन्ध है, तबतक उसे इसकी व्याधि-पीड़ा और भूख-प्यास आदिका भी वहन करना पड़ता है। परन्तु अपनेको शरीर नहीं, आत्माके रूपमें देखनेवाला साधक शरीर और उसके गुणोंका आश्रय होनेपर भी उनसे सर्वथा निर्लिप्त रहता है ॥ ४१ ॥

**अन्तर्हितश्च स्थिरजङ्गमेषु  
ब्रह्मात्मभावेन समन्वयेन ।**

**व्याप्त्याव्यवच्छेदमसङ्गमात्मनो**

**मुनिर्नभस्त्वं विततस्य भावयेत् ॥ ४२ ॥**

राजन्! जितने भी घट-मठ आदि पदार्थ हैं, वे चाहे चल हों या अचल, उनके कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें आकाश एक और

अपरिच्छिन्न ( अखण्ड ) ही है। वैसे ही चर-अचर जितने भी सूक्ष्म-स्थूल शरीर हैं, उनमें आत्मारूपसे सर्वत्र स्थित होनेके कारण ब्रह्म सभीमें है। साधकको चाहिये कि सूतके मनियोंमें व्याप्त सूतके समान आत्माको अखण्ड और असंगरूपसे देखे। वह इतना विस्तृत है कि उसकी तुलना कुछ-कुछ आकाशसे ही की जा सकती है। इसलिये साधकको आत्माकी आकाशरूपताकी भावना करनी चाहिये ॥ ४२ ॥

**तेजोऽबन्नमयैर्भावैर्मैघाद्यैर्वायुनेरितैः ।**

**न स्पृश्यते नभस्तद्वत् कालसृष्टैर्गुणैः पुमान् ॥ ४३ ॥**

आग लगती है, पानी बरसता है, अन्न आदि पैदा होते और नष्ट होते हैं, वायुकी प्रेरणासे बादल आदि आते और चले जाते हैं; यह सब होनेपर भी आकाश अछूता रहता है। आकाशकी दृष्टिसे यह सब कुछ है ही नहीं। इसी प्रकार भूत, वर्तमान और भविष्यके चक्करमें न जाने किन-किन नामरूपोंकी सृष्टि और प्रलय होते हैं; परन्तु आत्माके साथ उनका कोई संस्पर्श नहीं है ॥ ४३ ॥

**स्वच्छः प्रकृतितः स्निग्धो माधुर्यस्तीर्थभूर्नृणाम् ।**

**मुनिः पुनात्यपां मित्रमीक्षोपस्पर्शकीर्तनैः ॥ ४४ ॥**

जिस प्रकार जल स्वभावसे ही स्वच्छ, चिकना, मधुर और पवित्र करनेवाला होता है तथा गंगा आदि तीर्थोंके दर्शन, स्पर्श और नामोच्चारणसे भी लोग पवित्र हो जाते हैं—वैसे ही साधकको भी स्वभावसे ही शुद्ध, स्निग्ध, मधुरभाषी और लोकपावन होना चाहिये। जलसे शिक्षा ग्रहण करनेवाला अपने दर्शन, स्पर्श और नामोच्चारणसे लोगोंको पवित्र कर देता है ॥ ४४ ॥

**तेजस्वी तपसा दीप्तो दुर्धर्षोदरभाजनः ।**

**सर्वभक्षोऽपि युक्तात्मा नादत्ते मलमग्नवत् ॥ ४५ ॥**

राजन्! मैंने अग्निसे यह शिक्षा ली है कि जैसे वह तेजस्वी

और ज्योतिर्मय होती है, जैसे उसे कोई अपने तेजसे दबा नहीं सकता, जैसे उसके पास संग्रह-परिग्रहके लिये कोई पात्र नहीं—सब कुछ अपने पेटमें रख लेती है, और जैसे सब कुछ खा-पी लेनेपर भी विभिन्न वस्तुओंके दोषोंसे वह लिप्त नहीं होती, वैसे ही साधक भी परम तेजस्वी, तपस्यासे देदीप्यमान, इन्द्रियोंसे अपराभूत, भोजनमात्रका संग्रही और यथायोग्य सभी विषयोंका उपभोग करता हुआ भी अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें रखे, किसीका दोष अपनेमें न आने दे ॥ ४५ ॥

**क्वचिच्छन्नः क्वचित् स्पष्ट उपास्यः श्रेय इच्छताम् ।**

**भुङ्क्ते सर्वत्र दातृणां दहन् प्रागुत्तराशुभम् ॥ ४६ ॥**

जैसे अग्नि कहीं (लकड़ी आदिमें) अप्रकट रहती है और कहीं प्रकट, वैसे ही साधक भी कहीं गुप्त रहे और कहीं प्रकट हो जाय। वह कहीं-कहीं ऐसे रूपमें भी प्रकट हो जाता है, जिससे कल्याणकामी पुरुष उसकी उपासना कर सकें। वह अग्निके समान ही भिक्षारूप हवन करनेवालोंके अतीत और भावी अशुभको भस्म कर देता है तथा सर्वत्र अन्न ग्रहण करता है ॥ ४६ ॥

**स्वमायया सृष्टमिदं सदसल्लक्षणं विभुः ।**

**प्रविष्ट ईयते तत्तत्स्वरूपोऽग्निरिवैधसि ॥ ४७ ॥**

साधक पुरुषको इसका विचार करना चाहिये कि जैसे अग्नि लम्बी-चौड़ी, टेढ़ी-सीधी लकड़ियोंमें रहकर उनके समान ही सीधी-टेढ़ी या लम्बी-चौड़ी दिखायी पड़ती है—वास्तवमें वह वैसी है नहीं; वैसे ही सर्वव्यापक आत्मा भी अपनी मायासे रचे हुए कार्य-कारणरूप जगत्में व्याप्त होनेके कारण उन-उन वस्तुओंके नाम-रूपसे कोई सम्बन्ध न होनेपर भी उनके रूपमें प्रतीत होने लगता है ॥ ४७ ॥

विसर्गाद्याः श्मशानान्ता भावा देहस्य नात्मनः।

कलानामिव चन्द्रस्य कालेनाव्यक्तवर्त्मना ॥ ४८ ॥

मैंने चन्द्रमासे यह शिक्षा ग्रहण की है कि यद्यपि जिसकी गति नहीं जानी जा सकती, उस कालके प्रभावसे चन्द्रमाकी कलाएँ घटती-बढ़ती रहती हैं, तथापि चन्द्रमा तो चन्द्रमा ही है, वह न घटता है और न बढ़ता ही है; वैसे ही जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त जितनी भी अवस्थाएँ हैं, सब शरीरकी हैं, आत्मासे उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है ॥ ४८ ॥

कालेन ह्योघवेगेन भूतानां प्रभवाप्ययौ।

नित्यावपि न दृश्येते आत्मनोऽन्येनार्चिषाम् ॥ ४९ ॥

जैसे आगकी लपट अथवा दीपककी लौ क्षण-क्षणमें उत्पन्न और नष्ट होती रहती है—उनका यह क्रम निरन्तर चलता रहता है, परन्तु दीख नहीं पड़ता—वैसे ही जलप्रवाहके समान वेगवान् कालके द्वारा क्षण-क्षणमें प्राणियोंके शरीरकी उत्पत्ति और विनाश होता रहता है, परन्तु अज्ञानवश वह दिखायी नहीं पड़ता ॥ ४९ ॥

गुणैर्गुणानुपादत्ते यथाकालं विमुञ्चति।

न तेषु युज्यते योगी गोभिर्गा इव गोपतिः ॥ ५० ॥

राजन्! मैंने सूर्यसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे वे अपनी किरणोंसे पृथ्वीका जल खींचते और समयपर उसे बरसा देते हैं, वैसे ही योगी पुरुष इन्द्रियोंके द्वारा समयपर विषयोंका ग्रहण करता है और समय आनेपर उनका त्याग—उनका दान भी कर देता है। किसी भी समय उसे इन्द्रियके किसी भी विषयमें आसक्ति नहीं होती ॥ ५० ॥

बुध्यते स्वे न भेदेन व्यक्तिस्थ इव तद्गतः।

लक्ष्यते स्थूलमतिभिरात्मा चावस्थितोऽर्कवत् ॥ ५१ ॥

स्थूलबुद्धि पुरुषोंको जलके विभिन्न पात्रोंमें प्रतिबिम्बित हुआ

सूर्य उन्हींमें प्रविष्ट-सा होकर भिन्न-भिन्न दिखायी पड़ता है। परन्तु इससे स्वरूपतः सूर्य अनेक नहीं हो जाता; वैसे ही चल-अचल उपाधियोंके भेदसे ऐसा जान पड़ता है कि प्रत्येक व्यक्तिमें आत्मा अलग-अलग है। परन्तु जिनको ऐसा मालूम होता है, उनकी बुद्धि मोटी है। असल बात तो यह है कि आत्मा सूर्यके समान एक ही है। स्वरूपतः उसमें कोई भेद नहीं है ॥ ५१ ॥

**नातिस्नेहः प्रसङ्गो वा कर्तव्यः क्वापि केनचित्।**

**कुर्वन् विन्देत सन्तापं कपोत इव दीनधीः ॥ ५२ ॥**

राजन्! कहीं किसीके साथ अत्यन्त स्नेह अथवा आसक्ति न करनी चाहिये, अन्यथा उसकी बुद्धि अपना स्वातन्त्र्य खोकर दीन हो जायगी और उसे कबूतरकी तरह अत्यन्त क्लेश उठाना पड़ेगा ॥ ५२ ॥

**कपोतः कश्चनारण्ये कृतनीडो वनस्पतौ।**

**कपोत्या भार्यया सार्धमुवास कतिचित् समाः ॥ ५३ ॥**

राजन्! किसी जंगलमें एक कबूतर रहता था, उसने एक पेड़पर अपना घोंसला बना रखा था। अपनी मादा कबूतरकी साथ वह कई वर्षोंतक उसी घोंसलेमें रहा ॥ ५३ ॥

**कपोतौ स्नेहगुणितहृदयौ गृहधर्मिणौ।**

**दृष्टिं दृष्ट्याङ्गमङ्गेन बुद्धिं बुद्ध्या बबन्धतुः ॥ ५४ ॥**

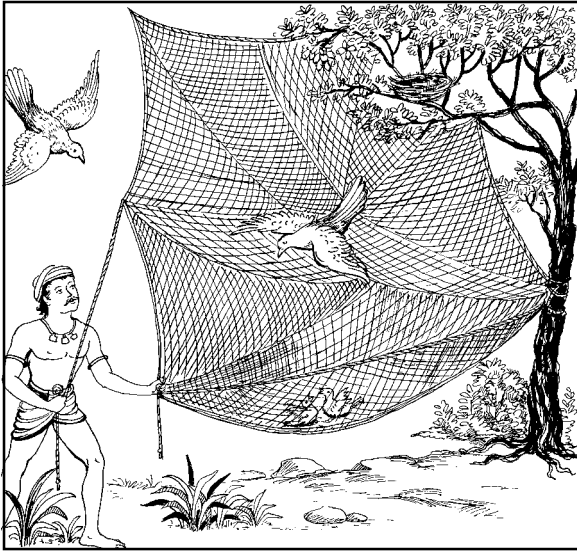
उस कबूतरके जोड़ेके हृदयमें निरन्तर एक-दूसरेके प्रति स्नेहकी वृद्धि होती जाती थी। वे गृहस्थधर्ममें इतने आसक्त हो गये थे कि उन्होंने एक-दूसरेकी दृष्टि-से-दृष्टि, अंग-से-अंग और बुद्धि-से-बुद्धिको बाँध रखा था ॥ ५४ ॥

**शय्यासनाटनस्थानवार्ताक्रीडाशनादिकम् ।**

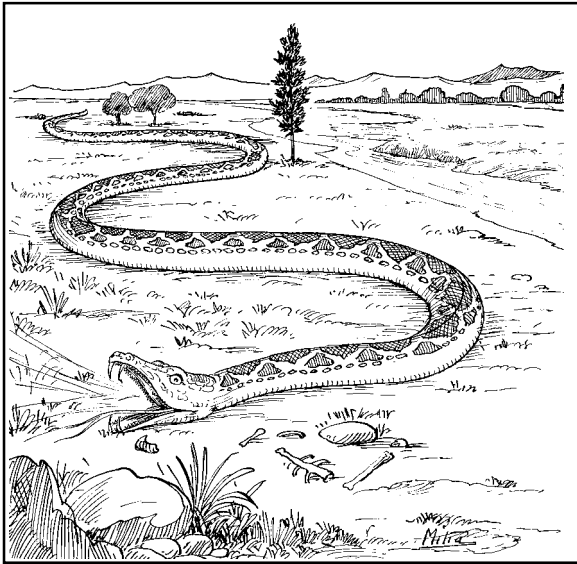
**मिथुनीभूय विस्त्रब्धौ चेरतुर्वनराजिषु ॥ ५५ ॥**

उनका एक-दूसरेपर इतना विश्वास हो गया था कि वे निःशंक





ममता और आसक्तिके कारण कपोत-दम्पतीका जालमें फँसना



प्रारब्धानुसार प्राप्तिपर ही अजगरका निर्वाह

होकर वहाँकी वृक्षावलीमें एक साथ सोते, बैठते, घूमते-फिरते, ठहरते, बातचीत करते, खेलते और खाते-पीते थे ॥ ५५ ॥

यं यं वाञ्छति सा राजंस्तर्पयन्त्यनुकम्पिता ।

तं तं समनयत् कामं कृच्छ्रेणाप्यजितेन्द्रियः ॥ ५६ ॥

राजन्! कबूतरीपर कबूतरका इतना प्रेम था कि वह जो कुछ चाहती, कबूतर बड़े-से-बड़ा कष्ट उठाकर उसकी कामना पूर्ण करता; वह कबूतरी भी अपने कामुक पतिकी कामनाएँ पूर्ण करती ॥ ५६ ॥

कपोती प्रथमं गर्भं गृह्णीति काल आगते ।

अण्डानि सुषुवे नीडे स्वपत्युः सन्निधौ सती ॥ ५७ ॥

समय आनेपर कबूतरीको पहला गर्भ रहा। उसने अपने पतिके पास ही घोंसलेमें अंडे दिये ॥ ५७ ॥

तेषु काले व्यजायन्त रचितावयवा हरेः ।

शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कोमलाङ्गतनूरुहाः ॥ ५८ ॥

भगवान्की अचिन्त्य शक्तिसे समय आनेपर वे अंडे फूट गये और उनमेंसे हाथ-पैरवाले बच्चे निकल आये। उनका एक-एक अंग और रोएँ अत्यन्त कोमल थे ॥ ५८ ॥

प्रजाः पुपुषतुः प्रीतौ दम्पती पुत्रवत्सलौ ।

शृण्वन्तौ कूजितं तासां निर्वृतौ कलभाषितैः ॥ ५९ ॥

अब उन कबूतर-कबूतरीकी आँखें अपने बच्चोंपर लग गयीं, वे बड़े प्रेम और आनन्दसे अपने बच्चोंका लालन-पालन, लाड़-प्यार करते और उनकी मीठी बोली, उनकी गुटर-गूँ सुन-सुनकर आनन्दमग्न हो जाते ॥ ५९ ॥

तासां पतत्रैः सुस्पर्शैः कूजितैर्मुग्धचेष्टितैः ।

प्रत्युद्गमैरदीनानां पितरौ मुदमापतुः ॥ ६० ॥

बच्चे तो सदा-सर्वदा प्रसन्न रहते ही हैं; वे जब अपने सुकुमार

पंखोंसे माँ-बापका स्पर्श करते, कूजते, भोली-भाली चेष्टाएँ करते और फुदक-फुदककर अपने माँ-बापके पास दौड़ आते, तब कबूतर-कबूतरी आनन्दमग्न हो जाते ॥ ६० ॥

**स्नेहानुबद्धहृदयावन्योन्यं**

**विष्णुमायया ।**

**विमोहितौ दीनधियौ शिशून् पुपुषतुः प्रजाः ॥ ६१ ॥**

राजन्! सच पूछो तो वे कबूतर-कबूतरी भगवान्की मायासे मोहित हो रहे थे। उनका हृदय एक-दूसरेके स्नेहबन्धनसे बँध रहा था। वे अपने नन्हें-नन्हें बच्चोंके पालन-पोषणमें इतने व्यग्र रहते कि उन्हें दीन-दुनिया, लोक-परलोककी याद ही न आती ॥ ६१ ॥

**एकदा जग्मतुस्तासामन्नार्थं तौ कुटुम्बिनौ ।**

**परितः कानने तस्मिन्नर्थिनौ चेरतुश्चिरम् ॥ ६२ ॥**

एक दिन दोनों नर-मादा अपने बच्चोंके लिये चारा लाने जंगलमें गये हुए थे; क्योंकि अब उनका कुटुम्ब बहुत बढ़ गया था। वे चारेके लिये चिरकालतक जंगलमें चारों ओर विचरते रहे ॥ ६२ ॥

**दृष्ट्वा ताल्लुब्धकः कश्चिद् यदृच्छातो वनेचरः ।**

**जगृहे जालमातत्य चरतः स्वालयान्तिके ॥ ६३ ॥**

इधर एक बहेलिया घूमता-घूमता संयोगवश उनके घोंसलेकी ओर आ निकला। उसने देखा कि घोंसलेके आस-पास कबूतरके बच्चे फुदक रहे हैं; उसने जाल फैलाकर उन्हें पकड़ लिया ॥ ६३ ॥

**कपोतश्च कपोती च प्रजापोषे सदोत्सुकौ ।**

**गतौ पोषणमादाय स्वनीडमुपजग्मतुः ॥ ६४ ॥**

कबूतर-कबूतरी बच्चोंको खिलाने-पिलानेके लिये हर समय उत्सुक रहा करते थे। अब वे चारा लेकर अपने घोंसलेके पास आये ॥ ६४ ॥

कपोती स्वात्मजान् वीक्ष्य बालकाञ्जालसंवृतान्।  
तानभ्यधावत् क्रोशन्ती क्रोशतो भृशदुःखिता ॥ ६५ ॥

कबूतरीने देखा कि उसके नन्हें-नन्हें बच्चे, उसके हृदयके टुकड़े जालमें फँसे हुए हैं और दुःखसे चें-चें कर रहे हैं। उन्हें ऐसी स्थितिमें देखकर कबूतरीके दुःखकी सीमा न रही। वह रोती-चिल्लाती उनके पास दौड़ गयी ॥ ६५ ॥

सासकृत्स्नेहगुणिता दीनचित्ताजमायया।  
स्वयं चाबध्यत शिचा बद्धान् पश्यन्त्यपस्मृतिः ॥ ६६ ॥

भगवान्की मायासे उसका चित्त अत्यन्त दीन-दुःखी हो रहा था। वह उमड़ते हुए स्नेहकी रस्सीसे जकड़ी हुई थी; अपने बच्चोंको जालमें फँसा देखकर उसे अपने शरीरकी भी सुध-बुध न रही और वह स्वयं ही जाकर जालमें फँस गयी ॥ ६६ ॥

कपोतश्चात्मजान् बद्धानात्मनोऽप्यधिकान् प्रियान्।  
भार्या चात्मसमां दीनो विललापातिदुःखितः ॥ ६७ ॥

जब कबूतरने देखा कि मेरे प्राणोंसे भी प्यारे बच्चे जालमें फँस गये और मेरी प्राणप्रिया पत्नी भी उसी दशामें पहुँच गयी, तब वह अत्यन्त दुःखित होकर विलाप करने लगा। सचमुच उस समय उसकी दशा अत्यन्त दयनीय थी ॥ ६७ ॥

अहो मे पश्यतापायमल्पपुण्यस्य दुर्मतेः।  
अतृप्तस्याकृतार्थस्य गृहस्त्रैवर्गिको हतः ॥ ६८ ॥

मैं अभाग हूँ, दुर्मति हूँ। हाय, हाय! मेरा तो सत्यानाश हो गया। देखो, देखो, न मुझे अभी तृप्ति हुई और न मेरी आशाएँ ही पूरी हुई। तबतक मेरा धर्म, अर्थ और कामका मूल यह गृहस्थाश्रम ही नष्ट हो गया ॥ ६८ ॥

अनुरूपानुकूला च यस्य मे पतिदेवता ।

शून्ये गृहे मां सन्त्यज्य पुत्रैः स्वर्याति साधुभिः ॥ ६९ ॥

हाय ! मेरी प्राणप्यारी मुझे ही अपना इष्टदेव समझती थी; मेरी एक-एक बात मानती थी, मेरे इशारेपर नाचती थी, सब तरहसे मेरे योग्य थी। आज वह मुझे सूने घरमें छोड़कर हमारे सीधे-सादे निश्छल बच्चोंके साथ स्वर्ग सिधार रही है ॥ ६९ ॥

सोऽहं शून्ये गृहे दीनो मृतदारो मृतप्रजः ।

जिजीविषे किमर्थं वा विधुरो दुःखजीवितः ॥ ७० ॥

मेरे बच्चे मर गये। मेरी पत्नी जाती रही। मेरा अब संसारमें क्या काम है ? मुझ दीनका यह विधुर जीवन—बिना गृहिणीका जीवन जलनका—व्यथाका जीवन है। अब मैं इस सूने घरमें किसके लिये जीऊँ ? ॥ ७० ॥

तांस्तथैवावृताञ्छिग्भिर्मृत्युग्रस्तान् विचेष्टतः ।

स्वयं च कृपणः शिक्षु पश्यन्नप्यबुधोऽपतत् ॥ ७१ ॥

राजन् ! कबूतरके बच्चे जालमें फँसकर तड़फड़ा रहे थे, स्पष्ट दीख रहा था कि वे मौतके पंजेमें हैं, परन्तु वह मूर्ख कबूतर यह सब देखते हुए भी इतना दीन हो रहा था कि स्वयं जान-बूझकर जालमें कूद पड़ा ॥ ७१ ॥

तं लब्ध्वा लुब्धकः क्रूरः कपोतं गृहमेधिनम् ।

कपोतकान् कपोतीं च सिद्धार्थः प्रययौ गृहम् ॥ ७२ ॥

राजन् ! वह बहेलिया बड़ा क्रूर था। गृहस्थाश्रमी कबूतर-कबूतरी और उनके बच्चोंके मिल जानेसे उसे बड़ी प्रसन्नता हुई; उसने समझा मेरा काम बन गया और वह उन्हें लेकर चलता बना ॥ ७२ ॥

एवं कुटुम्ब्यशान्तात्मा द्वन्द्वारामः पतत्रिवत् ।

पुष्पान् कुटुम्बं कृपणः सानुबन्धोऽवसीदति ॥ ७३ ॥

जो कुटुम्बी है, विषयों और लोगोंके संग-साथमें ही जिसे सुख

मिलता है एवं अपने कुटुम्बके भरण-पोषणमें ही जो सारी सुध-बुध खो बैठा है, उसे कभी शान्ति नहीं मिल सकती। वह उसी कबूतरके समान अपने कुटुम्बके साथ कष्ट पाता है॥ ७३ ॥

**यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम्।**

**गृहेषु खगवत् सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः ॥ ७४ ॥**

यह मनुष्य-शरीर मुक्तिका खुला हुआ द्वार है। इसे पाकर भी जो कबूतरकी तरह अपनी घर-गृहस्थीमें ही फँसा हुआ है, वह बहुत ऊँचेतक चढ़कर गिर रहा है। शास्त्रकी भाषामें वह 'आरूढच्युत' है॥ ७४ ॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे  
अवधूतगीतायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

## दूसरा अध्याय

**अजगरसे लेकर पिंगलातक नौ गुरुओंकी कथा**

ब्राह्मण उवाच

**सुखमैन्द्रियकं राजन् स्वर्गे नरक एव च।  
देहिनां यद् यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद् बुधः ॥ १ ॥**

अवधूत दत्तात्रेयजी कहते हैं—राजन्! प्राणियोंको जैसे बिना इच्छाके, बिना किसी प्रयत्नके, रोकनेकी चेष्टा करनेपर भी पूर्वकर्मानुसार दुःख प्राप्त होते हैं, वैसे ही स्वर्गमें या नरकमें—कहीं भी रहें, उन्हें इन्द्रियसम्बन्धी सुख भी प्राप्त होते ही हैं। इसलिये सुख और दुःखका रहस्य जाननेवाले बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि इनके लिये इच्छा अथवा किसी प्रकारका प्रयत्न न करे॥ १ ॥

**ग्रासं सुमृष्टं विरसं महान्तं स्तोकमेव वा।  
यदृच्छयैवापतितं ग्रसेदाजगरोऽक्रियः ॥ २ ॥**

बिना माँगे, बिना इच्छा किये स्वयं ही अनायास जो कुछ मिल

जाय—वह चाहे रूखा—सूखा हो, चाहे बहुत मधुर और स्वादिष्ट, अधिक हो या थोड़ा—बुद्धिमान् पुरुष अजगरके समान उसे ही खाकर जीवननिर्वाह कर ले और उदासीन रहे ॥ २ ॥

**शयीताहानि भूरीणि निराहारोऽनुपक्रमः ।  
यदि नोपनमेद् ग्रासो महाहिरिव दिष्टभुक् ॥ ३ ॥**

यदि भोजन न मिले तो उसे भी प्रारब्ध-भोग समझकर किसी प्रकारकी चेष्टा न करे, बहुत दिनोंतक भूखा ही पड़ा रहे। उसे चाहिये कि अजगरके समान केवल प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए भोजनमें ही सन्तुष्ट रहे ॥ ३ ॥

**ओजःसहोबलयुतं बिभ्रद् देहमकर्मकम् ।  
शयानो वीतनिद्रश्च नेहेतेन्द्रियवानपि ॥ ४ ॥**

उसके शरीरमें मनोबल, इन्द्रियबल और देहबल तीनों हों तब भी वह निश्चेष्ट ही रहे। निद्रारहित होनेपर भी सोया हुआ—सा रहे और कर्मेन्द्रियोंके होनेपर भी उनसे कोई चेष्टा न करे। राजन्! मैंने अजगरसे यही शिक्षा ग्रहण की है ॥ ४ ॥

**मुनिः प्रसन्नगम्भीरो दुर्विगाह्यो दुरत्ययः ।  
अनन्तपारो ह्यक्षोभ्यः स्तिमितोद इवार्णवः ॥ ५ ॥**

समुद्रसे मैंने यह सीखा है कि साधकको सर्वदा प्रसन्न और गम्भीर रहना चाहिये, उसका भाव अथाह, अपार और असीम होना चाहिये तथा किसी भी निमित्तसे उसे क्षोभ नहीं होना चाहिये। उसे ठीक वैसे ही रहना चाहिये, जैसे ज्वार-भाटे और तरंगोंसे रहित शान्त समुद्र ॥ ५ ॥

**समृद्धकामो ह्रीनो वा नारायणपरो मुनिः ।  
नोत्सर्पेत न शुष्येत सरिद्धिरिव सागरः ॥ ६ ॥**

देखो, समुद्र वर्षाऋतुमें नदियोंकी बाढ़के कारण बढ़ता नहीं और न ग्रीष्मऋतुमें घटता ही है; वैसे ही भगवत्परायण साधकको भी सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिसे प्रफुल्लित न होना चाहिये और न उनके

घटनेसे उदास ही होना चाहिये ॥ ६ ॥

दृष्ट्वा स्त्रियं देवमायां तद्भावैरजितेन्द्रियः ।

प्रलोभितः पतत्यन्धे तमस्यग्नौ पतङ्गवत् ॥ ७ ॥

राजन्! मैंने पतिंगेसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे वह रूपपर मोहित होकर आगमें कूद पड़ता है और जल मरता है, वैसे ही अपनी इन्द्रियोंको वशमें न रखनेवाला पुरुष जब स्त्रीको देखता है तो उसके हाव-भावपर लट्टू हो जाता है और घोर अन्धकारमें, नरकमें गिरकर अपना सत्यानाश कर लेता है। सचमुच स्त्री देवताओंकी वह माया है, जिससे जीव भगवान् या मोक्षकी प्राप्तिसे वंचित रह जाता है ॥ ७ ॥

योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादि-

द्रव्येषु

मायारचितेषु

मूढः ।

प्रलोभितात्मा

ह्युपभोगबुद्ध्या

पतङ्गवन्नश्यति

नष्टदृष्टिः ॥ ८ ॥

जो मूढ़ कामिनी-कंचन, गहने-कपड़े आदि नाशवान् मायिक पदार्थोंमें फँसा हुआ है और जिसकी सम्पूर्ण चित्तवृत्ति उनके उपभोगके लिये ही लालायित है, वह अपनी विवेकबुद्धि खोकर पतिंगेके समान नष्ट हो जाता है ॥ ८ ॥

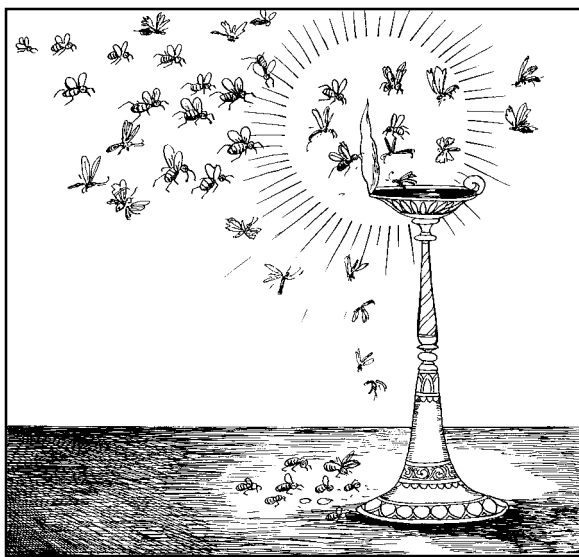
स्तोकं स्तोकं ग्रसेद् ग्रासं देहो वर्तेत यावता ।

गृहानहिंसन्नातिष्ठेद् वृत्तिं माधुकरिं मुनिः ॥ ९ ॥

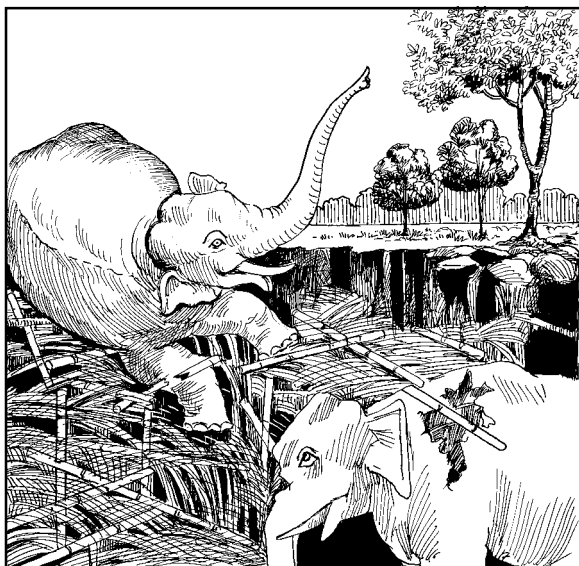
राजन्! संन्यासीको चाहिये कि गृहस्थोंको किसी प्रकारका कष्ट न देकर भौरेकी तरह अपना जीवन-निर्वाह करे। वह अपने शरीरके लिये उपयोगी रोटीके कुछ टुकड़े कई घरोंसे माँग ले\* ॥ ९ ॥

\* नहीं तो एक ही कमलके गन्धमें आसक्त हुआ भ्रमर जैसे रात्रिके समय उसमें बन्द हो जानेसे नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार स्वादवासनासे एक ही गृहस्थका अन्न खानेसे उसके सांसर्गिक मोहमें फँसकर यति भी नष्ट हो जायगा।





रूपपर मोहित पतंगोंका दीप-लौमें झुलसकर प्राण देना



काठकी हथिनीके मोहमें पड़कर हाथीका फँसना

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः ।

सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः ॥ १० ॥

जिस प्रकार भौरा विभिन्न पुष्पोंसे—चाहे वे छोटे हों या बड़े—उनका सार संग्रह करता है, वैसे ही बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि छोटे-बड़े सभी शास्त्रोंसे उनका सार—उनका रस निचोड़ ले ॥ १० ॥

सायन्तनं श्वस्तनं वा न संगृहीत भिक्षितम् ।

पाणिपात्रोदरामत्रो मक्षिकेव न सङ्ग्रही ॥ ११ ॥

राजन्! मैंने मधुमक्खीसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि संन्यासीको सायंकाल अथवा दूसरे दिनके लिये भिक्षाका संग्रह न करना चाहिये। उसके पास भिक्षा लेनेको कोई पात्र हो तो केवल हाथ और रखनेके लिये कोई बर्तन हो तो पेट। वह कहीं संग्रह न कर बैठे, नहीं तो मधुमक्खियोंके समान उसका जीवन ही दूभर हो जायगा ॥ ११ ॥

सायन्तनं श्वस्तनं वा न संगृहीत भिक्षुकः ।

मक्षिका इव सङ्गृह्णन् सह तेन विनश्यति ॥ १२ ॥

यह बात खूब समझ लेनी चाहिये कि संन्यासी सबेरे-शामके लिये किसी प्रकारका संग्रह न करे; यदि संग्रह करेगा, तो मधुमक्खियोंके समान अपने संग्रहके साथ ही जीवन भी गँवा बैठेगा ॥ १२ ॥

पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि ।

स्पृशन् करीव बध्येत करिण्या अङ्गसङ्गतः ॥ १३ ॥

राजन्! मैंने हाथीसे यह सीखा कि संन्यासीको कभी पैरसे भी काठकी बनी हुई स्त्रीका भी स्पर्श न करना चाहिये। यदि वह ऐसा करेगा तो जैसे हथिनीके अंग-संगसे हाथी बँध जाता है, वैसे ही वह भी बँध जायगा\* ॥ १३ ॥

\* हाथी पकड़नेवाले तिनकोंसे ढके हुए गड्ढेपर कागजकी हथिनी खड़ी कर देते हैं। उसे देखकर हाथी वहाँ आता है और गड्ढेमें गिरकर फँस जाता है।

नाधिगच्छेत् स्त्रियं प्राज्ञः कर्हिचिन्मृत्युमात्मनः ।

बलाधिकैः स हन्येत गजैरन्यैर्गजो यथा ॥ १४ ॥

विवेकी पुरुष किसी भी स्त्रीको कभी भी भोग्यरूपसे स्वीकार न करे; क्योंकि यह उसकी मूर्तिमती मृत्यु है। यदि वह स्वीकार करेगा तो हाथियोंसे हाथीकी तरह अधिक बलवान् अन्य पुरुषोंके द्वारा मारा जायगा ॥ १४ ॥

न देयं नोपभोग्यं च लुब्धैर्यद् दुःखसञ्चितम् ।

भुङ्क्ते तदपि तच्चान्यो मधुहेवार्थविन्मधु ॥ १५ ॥

मैंने मधु निकालनेवाले पुरुषसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि संसारके लोभी पुरुष बड़ी कठिनाईसे धनका संचय तो करते रहते हैं, किन्तु वह सञ्चित धन न किसीको दान करते हैं और न स्वयं उसका उपभोग ही करते हैं। बस, जैसे मधु निकालनेवाला मधुमक्खियोंद्वारा सञ्चित रसको निकाल ले जाता है, वैसे ही उनके सञ्चित धनको भी उसकी टोह रखनेवाला कोई दूसरा पुरुष ही भोगता है ॥ १५ ॥

सुदुःखोपार्जितैर्वितैराशासानां गृहाशिषः ।

मधुहेवाग्रतो भुङ्क्ते यतिर्वै गृहमेधिनाम् ॥ १६ ॥

तुम देखते हो न कि मधुहारी मधुमक्खियोंका जोड़ा हुआ मधु उनके खानेसे पहले ही साफ कर जाता है; वैसे ही गृहस्थोंके बहुत कठिनाईसे सञ्चित किये पदार्थोंको, जिनसे वे सुखभोगकी अभिलाषा रखते हैं, उनसे भी पहले संन्यासी और ब्रह्मचारी भोगते हैं; क्योंकि गृहस्थ तो पहले अतिथि-अभ्यागतोंको भोजन कराकर ही स्वयं भोजन करेगा ॥ १६ ॥

ग्राम्यगीतं न शृणुयाद् यतिर्वनचरः क्वचित् ।

शिक्षेत हरिणाद् बद्धान्मृगयोर्गीतमोहितात् ॥ १७ ॥

मैंने हरिनसे यह सीखा है कि वनवासी संन्यासीको कभी विषय-सम्बन्धी गीत नहीं सुनने चाहिये। वह इस बातकी शिक्षा उस हरिनसे

ग्रहण करे, जो व्याधके गीतसे मोहित होकर बँध जाता है ॥ १७ ॥

नृत्यवादित्रगीतानि जुषन् ग्राम्याणि योषिताम् ।

आसां क्रीडनको वश्य ऋष्यशृङ्गो मृगीसुतः ॥ १८ ॥

तुम्हें इस बातका पता है कि हरिनीके गर्भसे पैदा हुए ऋष्यशृंग मुनि स्त्रियोंका विषय-सम्बन्धी गाना-बजाना, नाचना आदि देख-सुनकर उनके वशमें हो गये थे और उनके हाथकी कठपुतली बन गये थे ॥ १८ ॥

जिह्वातिप्रमाथिन्या जनो रसविमोहितः ।

मृत्युमृच्छत्यसदबुद्धिर्मीनस्तु बडिशैर्यथा ॥ १९ ॥

अब मैं तुम्हें मछलीकी सीख सुनाता हूँ। जैसे मछली काँटेमें लगे हुए मांसके टुकड़ेके लोभसे अपने प्राण गँवा देती है, वैसे ही स्वादका लोभी दुर्बुद्धि मनुष्य भी अपने मनको मथकर व्याकुल कर देनेवाली अपनी जिह्वाके वशमें हो जाता है और मारा जाता है ॥ १९ ॥

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः ।

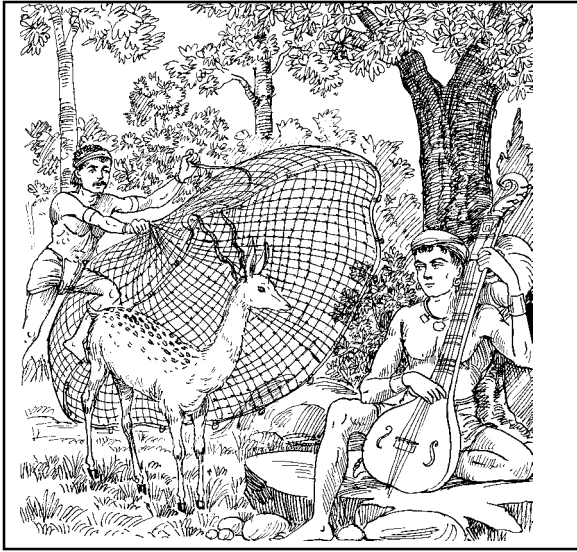
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते ॥ २० ॥

विवेकी पुरुष भोजन बन्द करके दूसरी इन्द्रियोंपर तो बहुत शीघ्र विजय प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु इससे उनकी रसना-इन्द्रिय वशमें नहीं होती। वह तो भोजन बन्द कर देनेसे और भी प्रबल हो जाती है ॥ २० ॥

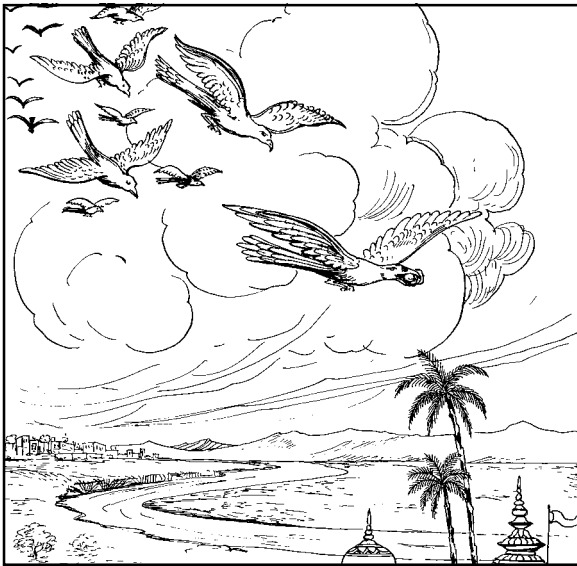
तावज्जितेन्द्रियो न स्याद् विजितान्येन्द्रियः पुमान् ।

न जयेद् रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे ॥ २१ ॥

मनुष्य और सब इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर लेनेपर भी तबतक जितेन्द्रिय नहीं हो सकता, जबतक रसनेन्द्रियको अपने वशमें नहीं कर लेता। और यदि रसनेन्द्रियको वशमें कर लिया, तब तो मानो सभी इन्द्रियाँ वशमें हो गयीं ॥ २१ ॥



गायन-वादनपर मोहित हरिनका जालमें फँसना



मांसके टुकड़ेके लिये क्राँचपक्षीको दूसरे पक्षियोंद्वारा मारना

पिङ्गला नाम वेश्यासीद् विदेहनगरे पुरा ।  
तस्या मे शिक्षितं किञ्चिन्निबोध नृपनन्दन ॥ २२ ॥

नृपनन्दन! प्राचीन कालकी बात है कि विदेहनगरी मिथिलामें एक वेश्या रहती थी। उसका नाम था पिंगला। मैंने उससे जो कुछ शिक्षा ग्रहण की, वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ; सावधान होकर सुनो ॥ २२ ॥

सा स्वैरिण्येकदा कान्तं सङ्केत उपनेष्यती ।  
अभूत् काले बहिर्द्वारि बिभ्रती रूपमुत्तमम् ॥ २३ ॥

वह स्वेच्छाचारिणी तो थी ही, रूपवती भी थी। एक दिन रात्रिके समय किसी पुरुषको अपने रमणस्थानमें लानेके लिये खूब बन-ठनकर—उत्तम वस्त्राभूषणोंसे सजकर बहुत देरतक अपने घरके बाहरी दरवाजेपर खड़ी रही ॥ २३ ॥

मार्ग आगच्छतो वीक्ष्य पुरुषान् पुरुषर्षभ ।  
ताञ्छुल्कदान् वित्तवतः कान्तान् मेनेऽर्थकामुका ॥ २४ ॥

नररत्न! उसे पुरुषकी नहीं, धनकी कामना थी और उसके मनमें यह कामना इतनी दृढ़मूल हो गयी थी कि वह किसी भी पुरुषको उधरसे आते-जाते देखकर यही सोचती कि यह कोई धनी है और मुझे धन देकर उपभोग करनेके लिये ही आ रहा है ॥ २४ ॥

आगतेष्वपयातेषु सा सङ्केतोपजीविनी ।  
अप्यन्यो वित्तवान् कोऽपि मामुपैष्यति भूरिदः ॥ २५ ॥

जब आने-जानेवाले आगे बढ़ जाते, तब फिर वह संकेतजीविनी वेश्या यही सोचती कि अवश्य ही अबकी बार कोई ऐसा धनी मेरे पास आयेगा जो मुझे बहुत-सा धन देगा ॥ २५ ॥

एवं दुराशया ध्वस्तनिद्रा द्वार्यवलम्बती ।  
निर्गच्छन्ती प्रविशती निशीथं समपद्यत ॥ २६ ॥

उसके चित्तकी यह दुराशा बढ़ती ही जाती थी। वह दरवाजेपर

बहुत देरतक टँगी रही। उसकी नींद भी जाती रही। वह कभी बाहर आती तो कभी भीतर जाती। इस प्रकार आधी रात हो गयी ॥ २६ ॥

**तस्या वित्ताशया शुष्यद्वक्त्राया दीनचेतसः ।**

**निर्वेदः परमो जज्ञे चिन्ताहेतुः सुखावहः ॥ २७ ॥**

राजन्! सचमुच आशा और सो भी धनकी—बहुत बुरी है। धनीकी बाट जोहते-जोहते उसका मुँह सूख गया, चित्त व्याकुल हो गया। अब उसे इस वृत्तिसे बड़ा वैराग्य हुआ। उसमें दुःख-बुद्धि हो गयी। इसमें सन्देह नहीं कि इस वैराग्यका कारण चिन्ता ही थी। परन्तु ऐसा वैराग्य भी है तो सुखका ही हेतु ॥ २७ ॥

**तस्या निर्विण्णचित्ताया गीतं शृणु यथा मम ।**

**निर्वेद आशापाशानां पुरुषस्य यथा ह्यसिः ॥ २८ ॥**

जब पिंगलाके चित्तमें इस प्रकार वैराग्यकी भावना जाग्रत् हुई, तब उसने एक गीत गाया। वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ। राजन्! मनुष्य आशाकी फाँसीपर लटक रहा है। इसको तलवारकी तरह काटनेवाली यदि कोई वस्तु है तो वह केवल वैराग्य है ॥ २८ ॥

**न ह्यङ्गाज्जातनिर्वेदो देहबन्धं जिहासति ।**

**यथा विज्ञानरहितो मनुजो ममतां नृप ॥ २९ ॥**

प्रिय राजन्! जिसे वैराग्य नहीं हुआ है, जो इन बखेड़ोंसे ऊबा नहीं है, वह शरीर और इसके बन्धनसे उसी प्रकार मुक्त नहीं होना चाहता, जैसे अज्ञानी पुरुष ममता छोड़नेकी इच्छा भी नहीं करता ॥ २९ ॥

*पिङ्गलोवाच*

**अहो मे मोहविततिं पश्यताविजितात्मनः ।**

**या कान्तादसतः कामं कामये येन बालिशः ॥ ३० ॥**

पिंगलाने यह गीत गाया था— हाय! हाय! मैं इन्द्रियोंके

अधीन हो गयी! भला मेरे मोहका विस्तार तो देखो, मैं इन दुष्ट पुरुषोंसे, जिनका कोई अस्तित्व ही नहीं है, विषयसुखकी लालसा करती हूँ। कितने दुःखकी बात है! मैं सचमुच मूर्ख हूँ॥ ३० ॥

सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं  
वित्तप्रदं नित्यमिमं विहाय।

अकामदं दुःखभयाधिशोक-  
मोहप्रदं तुच्छमहं भजेऽज्ञा ॥ ३१ ॥

देखो तो सही, मेरे निकट-से-निकट हृदयमें ही मेरे सच्चे स्वामी भगवान् विराजमान हैं। वे वास्तविक प्रेम, सुख और परमार्थका सच्चा धन भी देनेवाले हैं। जगत्के पुरुष अनित्य हैं और वे नित्य हैं। हाय! हाय! मैंने उनको तो छोड़ दिया और उन तुच्छ मनुष्योंका सेवन किया, जो मेरी एक भी कामना पूरी नहीं कर सकते; उलटे दुःख, भय, आधि-व्याधि, शोक और मोह ही देते हैं। यह मेरी मूर्खताकी हद है कि मैं उनका सेवन करती हूँ॥ ३१ ॥

अहो मयात्मा परितापितो वृथा  
साङ्केत्यवृत्त्यातिविगर्हावार्तया ।

स्त्रैणान्तराद् यार्थतृषोऽनुशोच्यात्  
क्रीतेन वित्तं रतिमात्मनेच्छती ॥ ३२ ॥

बड़े खेदकी बात है, मैंने अत्यन्त निन्दनीय आजीविका वेश्यावृत्तिका आश्रय लिया और व्यर्थमें अपने शरीर और मनको क्लेश दिया, पीड़ा पहुँचायी। मेरा यह शरीर बिक गया है। लम्पट, लोभी और निन्दनीय मनुष्योंने इसे खरीद लिया है और मैं इतनी मूर्ख हूँ कि इसी शरीरसे धन और रति-सुख चाहती हूँ। मुझे धिक्कार है!॥ ३२ ॥

यदस्थिभिर्निर्मितवंशवंश्य-

स्थूणं त्वचा रोमनखैः पिनद्धम्।



क्षरन्नवद्वारमगारमेतद्

विण्मूत्रपूर्णं

मदुपैति

कान्या ॥ ३३ ॥

यह शरीर एक घर है। इसमें हड्डियोंके टेढ़े-तिरछे बाँस और खम्भे लगे हुए हैं; चाम, रोएँ और नाखूनोंसे यह छाया गया है। इसमें नौ दरवाजे हैं, जिनसे मल निकलते ही रहते हैं। इसमें सञ्चित सम्पत्तिके नामपर केवल मल और मूत्र हैं। मेरे अतिरिक्त ऐसी कौन स्त्री है, जो इस स्थूलशरीरको अपना प्रिय समझकर सेवन करेगी ॥ ३३ ॥

विदेहानां

पुरे

ह्यस्मिन्नहमेकैव

मूढधीः ।

यान्यमिच्छन्त्यसत्यस्मादात्मदात्

काममच्युतात् ॥ ३४ ॥

यों तो यह विदेहोंकी—जीवन्मुक्तोंकी नगरी है, परन्तु इसमें मैं ही सबसे मूर्ख और दुष्ट हूँ; क्योंकि अकेली मैं ही तो आत्मदानी, अविनाशी एवं परमप्रियतम परमात्माको छोड़कर दूसरे पुरुषकी अभिलाषा करती हूँ ॥ ३४ ॥

सुहृत् प्रेष्ठतमो नाथ आत्मा चायं शरीरिणाम् ।

तं विक्रीयात्मनैवाहं रमेऽनेन यथा रमा ॥ ३५ ॥

मेरे हृदयमें विराजमान प्रभु समस्त प्राणियोंके हितैषी, सुहृद्, प्रियतम, स्वामी और आत्मा हैं। अब मैं अपने-आपको देकर इन्हें खरीद लूँगी और इनके साथ वैसे ही विहार करूँगी, जैसे लक्ष्मीजी करती हैं ॥ ३५ ॥

कियत् प्रियं ते व्यभजन् कामा ये कामदा नराः ।

आद्यन्तवन्तो भार्याया देवा वा कालविद्रुताः ॥ ३६ ॥

मेरे मूर्ख चित्त! तू बतला तो सही, जगत्के विषयभोगोंने और उनको देनेवाले पुरुषोंने तुझे कितना सुख दिया है। अरे! वे तो स्वयं ही पैदा होते और मरते रहते हैं। मैं केवल अपनी ही बात नहीं कहती,

केवल मनुष्योंकी भी नहीं; क्या देवताओंने भी भोगोंके द्वारा अपनी पत्नियोंको सन्तुष्ट किया है? वे बेचारे तो स्वयं कालके गालमें पड़े-पड़े कराह रहे हैं ॥ ३६ ॥

**नूनं मे भगवान् प्रीतो विष्णुः केनापि कर्मणा ।**

**निर्वेदोऽयं दुराशाया यन्मे जातः सुखावहः ॥ ३७ ॥**

अवश्य ही मेरे किसी शुभकर्मसे विष्णुभगवान् मुझपर प्रसन्न हैं, तभी तो दुराशासे मुझे इस प्रकार वैराग्य हुआ है। अवश्य ही मेरा यह वैराग्य सुख देनेवाला होगा ॥ ३७ ॥

**मैवं स्युर्मन्दभाग्यायाः क्लेशा निर्वेदहेतवः ।**

**येनानुबन्धं निर्हृत्य पुरुषः शममृच्छति ॥ ३८ ॥**

यदि मैं मन्दभागिनी होती तो मुझे ऐसे दुःख ही न उठाने पड़ते, जिनसे वैराग्य होता है। मनुष्य वैराग्यके द्वारा ही घर आदिके सब बन्धनोंको काटकर शान्तिलाभ करता है ॥ ३८ ॥

**तेनोपकृतमादाय शिरसा ग्राम्यसङ्गताः ।**

**त्यक्त्वा दुराशाः शरणं ब्रजामि तमधीश्वरम् ॥ ३९ ॥**

अब मैं भगवान्का यह उपकार आदरपूर्वक सिर झुकाकर स्वीकार करती हूँ और विषयभोगोंकी दुराशा छोड़कर उन्हीं जगदीश्वरकी शरण ग्रहण करती हूँ ॥ ३९ ॥

**सन्तुष्टा श्रद्धात्येतद्यथालाभेन जीवती ।**

**विहराम्यमुनैवाहमात्मना रमणेन वै ॥ ४० ॥**

अब मुझे प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जायगा, उसीसे निर्वाह कर लूँगी और बड़े सन्तोष तथा श्रद्धाके साथ रहूँगी। मैं अब किसी दूसरे पुरुषकी ओर न ताककर अपने हृदयेश्वर, आत्मस्वरूप प्रभुके साथ ही विहार करूँगी ॥ ४० ॥

संसारकूपे पतितं विषयैर्मुषितेक्षणम्।  
ग्रस्तं कालाहिनात्मानं कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः ॥ ४१ ॥

यह जीव संसारके कुएँमें गिरा हुआ है। विषयोंने इसे अन्धा बना दिया है, कालरूपी अजगरने इसे अपने मुँहमें दबा रखा है। अब भगवान्को छोड़कर इसकी रक्षा करनेमें दूसरा कौन समर्थ है ॥ ४१ ॥

आत्मैव ह्यात्मनो गोप्ता निर्विद्येत यदाखिलात्।  
अप्रमत्त इदं पश्येद् ग्रस्तं कालाहिना जगत् ॥ ४२ ॥

जिस समय जीव समस्त विषयोंसे विरक्त हो जाता है, उस समय वह स्वयं ही अपनी रक्षा कर लेता है। इसलिये बड़ी सावधानीके साथ यह देखते रहना चाहिये कि सारा जगत् कालरूपी अजगरसे ग्रस्त है ॥ ४२ ॥

ब्राह्मण उवाच

एवं व्यवसितमतिर्दुराशां कान्ततर्षजाम्।  
छित्तोपशममास्थाय शय्यामुपविवेश सा ॥ ४३ ॥

अवधूत दत्तात्रेयजी कहते हैं—राजन्! पिंगला वेश्याने ऐसा निश्चय करके अपने प्रिय धनियोंकी दुराशा, उनसे मिलनेकी लालसाका परित्याग कर दिया और शान्तभावसे जाकर वह अपनी सेजपर सो रही ॥ ४३ ॥

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।  
यथा सञ्छिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला ॥ ४४ ॥

सचमुच आशा ही सबसे बड़ा दुःख है और निराशा ही सबसे बड़ा सुख है; क्योंकि पिंगला वेश्याने जब पुरुषकी आशा त्याग दी, तभी वह सुखसे सो सकी ॥ ४४ ॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे

अवधूतगीतायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥



## तीसरा अध्याय

कुररसे लेकर भृंगीतक सात गुरुओंकी कथा

ब्राह्मण उवाच

परिग्रहो हि दुःखाय यद् यत्प्रियतमं नृणाम्।  
अनन्तं सुखमाप्नोति तद् विद्वान् यस्त्वकिञ्चनः ॥ १ ॥

अवधूत दत्तात्रेयजीने कहा—राजन्! मनुष्योंको जो वस्तुएँ अत्यन्त प्रिय लगती हैं, उन्हें इकट्ठा करना ही उनके दुःखका कारण है। जो बुद्धिमान् पुरुष यह बात समझकर अकिञ्चनभावसे रहता है—शरीरकी तो बात ही अलग, मनसे भी किसी वस्तुका संग्रह नहीं करता—उसे अनन्त सुखस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

सामिषं कुररं जघ्नुर्बलिनो ये निरामिषाः।  
तदामिषं परित्यज्य स सुखं समविन्दत ॥ २ ॥

एक कुरर (क्रौंच) पक्षी अपनी चोंचमें मांसका टुकड़ा लिये हुए था। उस समय दूसरे बलवान् पक्षी, जिनके पास मांस नहीं था, उससे छीननेके लिये उसे घेरकर चोंचें मारने लगे। जब कुरर पक्षीने अपनी चोंचसे मांसका टुकड़ा फेंक दिया, तभी उसे सुख मिला ॥ २ ॥  
न मे मानावमानौ स्तो न चिन्ता गेहपुत्रिणाम्।

आत्मक्रीड आत्मरतिर्विचरामीह बालवत् ॥ ३ ॥

मुझे मान या अपमानका कोई ध्यान नहीं है और घर एवं परिवारवालोंको जो चिन्ता होती है, वह मुझे नहीं है। मैं अपने आत्मामें ही रमता हूँ और अपने साथ ही क्रीडा करता हूँ। यह शिक्षा मैंने बालकसे ली है। अतः उसीके समान मैं भी मौजसे रहता हूँ ॥ ३ ॥

द्वावेव चिन्तया मुक्तौ परमानन्द आप्लुतौ ।  
यो विमुग्धो जडो बालो यो गुणेभ्यः परं गतः ॥ ४ ॥

इस जगत्में दो ही प्रकारके व्यक्ति निश्चिन्त और परमानन्दमें मग्न रहते हैं—एक पुरुष तो भोला-भाला निश्चेष्ट नन्हा-सा बालक और दूसरा वह पुरुष जो गुणातीत हो गया हो ॥ ४ ॥

क्वचित् कुमारी त्वात्मानं वृणानान् गृहमागतान् ।  
स्वयं तानर्हयमास क्वापि यातेषु बन्धुषु ॥ ५ ॥

एक बार किसी कुमारी कन्याके घर उसे वरण करनेके लिये कई लोग आये हुए थे। उस दिन उसके घरके लोग कहीं बाहर गये हुए थे। इसलिये उसने स्वयं ही उनका आतिथ्य-सत्कार किया ॥ ५ ॥

तेषामभ्यवहारार्थं शालीन् रहसि पार्थिव ।  
अवघ्नन्त्याः प्रकोष्ठस्थाश्चक्रुः शङ्खाः स्वनं महत् ॥ ६ ॥

राजन्! उनको भोजन करानेके लिये वह घरके भीतर एकान्तमें धान कूटने लगी। उस समय उसकी कलाईमें पड़ी शंखकी चूड़ियाँ जोर-जोरसे बज रही थीं ॥ ६ ॥

सा तज्जुगुप्सितं मत्वा महती व्रीडिता ततः ।  
बभञ्जैकैकशः शङ्खान् द्वौ द्वौ पाण्योरशेषयत् ॥ ७ ॥

इस शब्दको निन्दित समझकर कुमारीको बड़ी लज्जा मालूम हुई\* और उसने एक-एक करके सब चूड़ियाँ तोड़ डालीं और दोनों हाथोंमें केवल दो-दो चूड़ियाँ रहने दीं ॥ ७ ॥

उभयोरप्यभूद् घोषो ह्यवघ्नन्त्याः स्म शङ्खयोः ।  
तत्राप्येकं निरभिददेकस्मान्नाभवद् ध्वनिः ॥ ८ ॥

अब वह फिर धान कूटने लगी। परन्तु वे दो-दो चूड़ियाँ भी

\* क्योंकि उससे उसका स्वयं धान कूटना सूचित होता था, जो कि उसकी दरिद्रताका द्योतक था।

बजने लगीं, तब उसने एक-एक चूड़ी और तोड़ दी। जब दोनों कलाइयोंमें केवल एक-एक चूड़ी रह गयी, तब किसी प्रकारकी आवाज नहीं हुई ॥ ८ ॥

अन्वशिक्षमिमं तस्या उपदेशमरिन्दम ।

लोकाननुचरन्नेताँल्लोकतत्त्वविवित्सया ॥ ९ ॥

वासे बहूनां कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि ।

एक एव चरेत्तस्मात् कुमार्या इव कङ्कणः ॥ १० ॥

रिपुदमन! उस समय लोगोंका आचार-विचार निरखने-परखनेके लिये इधर-उधर घूमता-घामता मैं भी वहाँ पहुँच गया था। मैंने उससे यह शिक्षा ग्रहण की कि जब बहुत लोग एक साथ रहते हैं तब कलह होता है और दो आदमी साथ रहते हैं तब भी बातचीत तो होती ही है; इसलिये कुमारी कन्याकी चूड़ीके समान अकेले ही विचरना चाहिये ॥ ९-१० ॥

मन एकत्र संयुज्याज्जितश्वासो जितासनः ।

वैराग्याभ्यासयोगेन ध्रियमाणमतन्द्रितः ॥ ११ ॥

राजन्! मैंने बाण बनानेवालेसे यह सीखा है कि आसन और श्वासको जीतकर वैराग्य और अभ्यासके द्वारा अपने मनको वशमें कर ले और फिर बड़ी सावधानीके साथ उसे एक लक्ष्यमें लगा दे ॥ ११ ॥

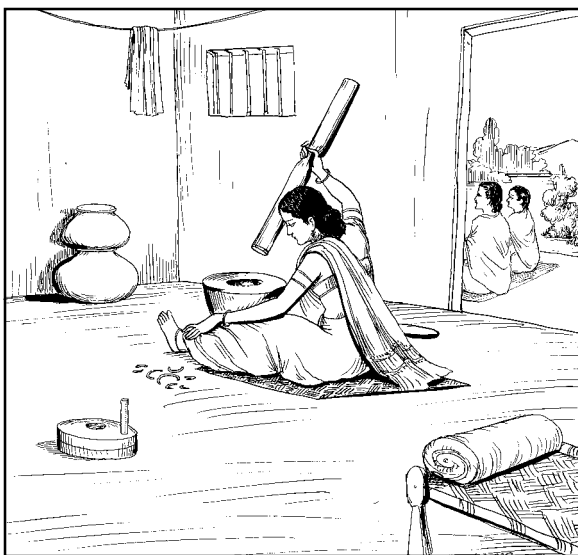
यस्मिन् मनो लब्धपदं यदेत-

च्छनैः शनैर्मुञ्चति कर्मरेणून् ।

सत्त्वेन वृद्धेन रजस्तमश्च

विधूय निर्वाणमुपैत्यनिन्धनम् ॥ १२ ॥

जब परमानन्दस्वरूप परमात्मामें मन स्थिर हो जाता है, तब वह धीरे-धीरे कर्मवासनाओंकी धूलको धो बहाता है। सत्त्वगुणकी



कुमारीद्वारा दोनों हाथोंकी एक-एक चूड़ी छोड़कर शेष तोड़नेसे आवाज बन्द



तन्मयताके कारण बाण बनानेवालेको राजाकी सवारीका भान न होना

वृद्धिसे रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियोंका त्याग करके मन वैसे ही शान्त हो जाता है, जैसे ईंधनके बिना अग्नि ॥ १२ ॥

**तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो**

**न वेद किञ्चिद् बहिरन्तरं वा।**

**यथेषुकारो**

**नृपतिं**

**व्रजन्त-**

**मिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे ॥ १३ ॥**

इस प्रकार जिसका चित्त अपने आत्मामें ही स्थिर—निरुद्ध हो जाता है, उसे बाहर-भीतर कहीं किसी पदार्थका भान नहीं होता। मैंने देखा था कि एक बाण बनानेवाला कारीगर बाण बनानेमें इतना तन्मय हो रहा था कि उसके पाससे ही दलबलके साथ राजाकी सवारी निकल गयी और उसे पतातक न चला ॥ १३ ॥

**एकचार्यनिकेतः**

**स्यादप्रमत्तो**

**गुहाशयः।**

**अलक्ष्यमाण**

**आचारैर्मुनिरेकोऽल्पभाषणः ॥ १४ ॥**

राजन्! मैंने साँपसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि संन्यासीको सर्पकी भाँति अकेले ही विचरण करना चाहिये, उसे मण्डली नहीं बाँधनी चाहिये, मठ तो बनाना ही नहीं चाहिये। वह एक स्थानमें न रहे, प्रमाद न करे, गुहा आदिमें पड़ा रहे, बाहरी आचारोंसे पहचाना न जाय। किसीसे सहायता न ले और बहुत कम बोले ॥ १४ ॥

**गृहारम्भोऽतिदुःखाय**

**विफलश्चाधुवात्मनः।**

**सर्पः**

**परकृतं**

**वेश्म**

**प्रविश्य**

**सुखमेधते ॥ १५ ॥**

इस अनित्य शरीरके लिये घर बनानेके बखेड़ेमें पड़ना व्यर्थ और दुःखकी जड़ है। साँप दूसरेके बनाये घरमें घुसकर बड़े आरामसे अपना समय काटता है ॥ १५ ॥

**एको**

**नारायणो**

**देवः**

**पूर्वसृष्टं**

**स्वमायया।**

**संहृत्य**

**कालकलया**

**कल्पान्त**

**इदमीश्वरः ॥ १६ ॥**



एक एवाद्वितीयोऽभूदात्माधारोऽखिलाश्रयः ।  
 कालेनात्मानुभावेन साम्यं नीतासु शक्तिषु ।  
 सत्त्वादिष्वादिपुरुषः प्रधानपुरुषेश्वरः ॥ १७ ॥  
 परावराणां परम आस्ते कैवल्यसंज्ञितः ।  
 केवलानुभवानन्दसन्दोहो निरुपाधिकः ॥ १८ ॥  
 केवलात्मानुभावेन स्वमायां त्रिगुणात्मिकाम् ।  
 संक्षोभयन् सृजत्यादौ तथा सूत्रमरिन्दम् ॥ १९ ॥  
 तामाहुस्त्रिगुणव्यक्तिं सृजन्तीं विश्वतोमुखम् ।  
 यस्मिन् प्रोतमिदं विश्वं येन संसरते पुमान् ॥ २० ॥

अब मकड़ीसे ली हुई शिक्षा सुनो। सबके प्रकाशक और अन्तर्यामी सर्वशक्तिमान् भगवान्ने पूर्वकल्पमें बिना किसी अन्य सहायकके अपनी ही मायासे रचे हुए जगत्को कल्पके अन्तमें (प्रलयकाल उपस्थित होनेपर) कालशक्तिके द्वारा नष्ट कर दिया—उसे अपनेमें लीन कर लिया और सजातीय, विजातीय तथा स्वगतभेदसे शून्य अकेले ही शेष रह गये। वे सबके अधिष्ठान हैं, सबके आश्रय हैं, परन्तु स्वयं अपने आश्रय—अपने ही आधारसे रहते हैं, उनका कोई दूसरा आधार नहीं है। वे प्रकृति और पुरुष दोनोंके नियामक, कार्य और कारणात्मक जगत्के आदिकारण परमात्मा अपनी शक्ति कालके प्रभावसे सत्त्व-रज आदि समस्त शक्तियोंको साम्यावस्थामें पहुँचा देते हैं और स्वयं कैवल्यरूपसे एक और अद्वितीयरूपसे विराजमान रहते हैं। वे केवल अनुभवस्वरूप और आनन्दघनमात्र हैं। किसी भी प्रकारकी उपाधिका उनसे सम्बन्ध नहीं है। वे ही प्रभु केवल अपनी शक्ति कालके द्वारा अपनी त्रिगुणमयी मायाको क्षुब्ध करते हैं और उससे पहले क्रियाशक्ति-प्रधान सूत्र (महत्तत्त्व) की रचना करते हैं। यह सूत्ररूप महत्तत्त्व ही

तीनों गुणोंकी पहली अभिव्यक्ति है, वही सब प्रकारकी सृष्टिका मूल कारण है। उसीमें यह सारा विश्व, सूतमें ताने-बानेकी तरह ओतप्रोत है और इसीके कारण जीवको जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ना पड़ता है ॥ १६—२० ॥

**यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णा सन्तत्य वक्त्रतः ।  
तथा विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः ॥ २१ ॥**

जैसे मकड़ी अपने हृदयसे मुँहके द्वारा जाला फैलाती है, उसीमें विहार करती है और फिर उसे निगल जाती है, वैसे ही परमेश्वर भी इस जगत्को अपनेमेंसे उत्पन्न करते हैं, उसमें जीवरूपसे विहार करते हैं और फिर उसे अपनेमें लीन कर लेते हैं ॥ २१ ॥

**यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया ।  
स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद् वापि याति तत्तत्स्वरूपताम् ॥ २२ ॥**

राजन्! मैंने भृंगी (बिलनी) कीड़ेसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि यदि प्राणी स्नेहसे, द्वेषसे अथवा भयसे भी जान-बूझकर एकाग्ररूपसे अपना मन किसीमें लगा दे तो उसे उसी वस्तुका स्वरूप प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

**कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशितः ।  
याति तत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपमसन्त्यजन् ॥ २३ ॥**

राजन्! जैसे भृंगी एक कीड़ेको ले जाकर दीवारपर अपने रहनेकी जगह बन्द कर देता है और वह कीड़ा भयसे उसीका चिन्तन करते-करते अपने पहले शरीरका त्याग किये बिना ही उसी शरीरसे तद्रूप हो जाता है\* ॥ २३ ॥

---

\* जब उसी शरीरसे चिन्तन किये रूपकी प्राप्ति हो जाती है, तब दूसरे शरीरसे तो कहना ही क्या है? इसीलिये मनुष्यको अन्य वस्तुका चिन्तन न करके केवल परमात्माका ही चिन्तन करना चाहिये ।

एवं गुरुभ्य एतेभ्य एषा मे शिक्षिता मतिः।  
स्वात्मोपशिक्षितां बुद्धिं शृणु मे वदतः प्रभो ॥ २४ ॥

राजन्! इस प्रकार मैंने इतने गुरुओंसे ये शिक्षाएँ ग्रहण कीं। अब मैंने अपने शरीरसे जो कुछ सीखा है, वह तुम्हें बताता हूँ, सावधान होकर सुनो ॥ २४ ॥

देहो गुरुर्मम विरक्तिविवेकहेतु-  
बिभ्रत् स्म सत्त्वनिधनं सततार्तुदुर्कम्।  
तत्त्वान्यनेन विमृशामि यथा तथापि  
पारव्यमित्यवसितो विचराम्यसङ्गः ॥ २५ ॥

यह शरीर भी मेरा गुरु ही है; क्योंकि यह मुझे विवेक और वैराग्यकी शिक्षा देता है। मरना और जीना तो इसके साथ लगा ही रहता है। इस शरीरको पकड़ रखनेका फल यह है कि दुःख-पर-दुःख भोगते जाओ। यद्यपि इस शरीरसे तत्त्वविचार करनेमें सहायता मिलती है, तथापि मैं इसे अपना कभी नहीं समझता; सर्वदा यही निश्चय रखता हूँ कि एक दिन इसे सियार-कुत्ते खा जायँगे। इसीलिये मैं इससे असंग होकर विचरता हूँ ॥ २५ ॥

जायात्मजार्थपशुभृत्यगृहाप्तवर्गान्  
पुष्पाति यत्प्रियचिकीर्षुतया वितन्वन्।  
स्वान्ते सकृच्छ्रमवरुद्धधनः स देहः  
सृष्ट्वास्य बीजमवसीदति वृक्षधर्मा ॥ २६ ॥

जीव जिस शरीरका प्रिय करनेके लिये ही अनेकों प्रकारकी कामनाएँ और कर्म करता है तथा स्त्री-पुत्र, धन-दौलत, हाथी-घोड़े, नौकर-चाकर, घर-द्वार और भाई-बन्धुओंका विस्तार करते हुए उनके पालन-पोषणमें लगा रहता है। बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ सहकर धनसंचय करता है। आयुष्य पूरी होनेपर वही शरीर स्वयं तो नष्ट होता ही

है, वृक्षके समान दूसरे शरीरके लिये बीज बोकर उसके लिये भी दुःखकी व्यवस्था कर जाता है ॥ २६ ॥

जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्षा  
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् ।

घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-

र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥ २७ ॥

जैसे बहुत-सी सौतें अपने एक पतिको अपनी-अपनी ओर खींचती हैं, वैसे ही जीवको जीभ एक ओर—स्वादिष्ट पदार्थोंकी ओर खींचती है तो प्यास दूसरी ओर—जलकी ओर; जननेन्द्रिय एक ओर—स्त्रीसंभोगकी ओर ले जाना चाहती है तो त्वचा, पेट और कान दूसरी ओर—कोमल स्पर्श, भोजन और मधुर शब्दकी ओर खींचने लगते हैं। नाक कहीं सुन्दर गन्ध सूँघनेके लिये ले जाना चाहती है तो चंचल नेत्र कहीं दूसरी ओर सुन्दर रूप देखनेके लिये। इस प्रकार कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ दोनों ही इसे सताती रहती हैं ॥ २७ ॥

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या  
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान् ।

तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय

ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः ॥ २८ ॥

वैसे तो भगवान्ने अपनी अचिन्त्य शक्ति मायासे वृक्ष, सरीसृप (रेंगनेवाले जन्तु), पशु, पक्षी, डाँस और मछली आदि अनेकों प्रकारकी योनियाँ रचीं; परन्तु उनसे उन्हें सन्तोष न हुआ। तब उन्होंने मनुष्यशरीरकी सृष्टि की। यह ऐसी बुद्धिसे युक्त है, जो ब्रह्मका साक्षात्कार कर सकती है। इसकी रचना करके वे बहुत आनन्दित हुए ॥ २८ ॥

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते  
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः ।

तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-

न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥ २९ ॥

यद्यपि यह मनुष्य-शरीर है तो अनित्य ही—मृत्यु सदा इसके पीछे लगी रहती है। परन्तु इससे परमपुरुषार्थकी प्राप्ति हो सकती है; इसलिये अनेक जन्मोंके बाद यह अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य-शरीर पाकर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि शीघ्र-से-शीघ्र, मृत्युके पहले ही मोक्ष-प्राप्तिका प्रयत्न कर ले। इस जीवनका मुख्य उद्देश्य मोक्ष ही है। विषयभोग तो सभी योनियोंमें प्राप्त हो सकते हैं, इसलिये उनके संग्रहमें यह अमूल्य जीवन नहीं खोना चाहिये ॥ २९ ॥

एवं सज्जातवैराग्यो विज्ञानालोक आत्मनि ।

विचरामि महीमेतां मुक्तसङ्गोऽनहङ्कृतिः ॥ ३० ॥

राजन्! यही सब सोच-विचारकर मुझे जगत्से वैराग्य हो गया। मेरे हृदयमें ज्ञान-विज्ञानकी ज्योति जगमगाती रहती है। न तो कहीं मेरी आसक्ति है और न कहीं अहंकार ही। अब मैं स्वच्छन्दरूपसे इस पृथ्वीमें विचरण करता हूँ ॥ ३० ॥

न ह्येकस्माद् गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात् सुपुष्कलम् ।

ब्रह्मैतदद्वितीयं वै गीयते बहुधर्षिभिः ॥ ३१ ॥

राजन्! अकेले गुरुसे ही यथेष्ट और सुदृढ़ बोध नहीं होता, उसके लिये अपनी बुद्धिसे भी बहुत-कुछ सोचने-समझनेकी आवश्यकता है। देखो! ऋषियोंने एक ही अद्वितीय ब्रह्मका अनेकों प्रकारसे गान किया है। (यदि तुम स्वयं विचारकर निर्णय न करोगे, तो ब्रह्मके वास्तविक स्वरूपको कैसे जान सकोगे?) ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच

इत्युक्त्वा स यदुं विप्रस्तमामन्त्र्य गभीरधीः ।  
वन्दितोऽभ्यर्थितो राज्ञा ययौ प्रीतो यथागतम् ॥ ३२ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्यारे उद्धव! गम्भीर-बुद्धि अवधूत दत्तात्रेयने राजा यदुको इस प्रकार उपदेश किया। यदुने उनकी पूजा और वन्दना की, दत्तात्रेयजी उनसे अनुमति लेकर बड़ी प्रसन्नतासे इच्छानुसार पधार गये ॥ ३२ ॥

अवधूतवचः श्रुत्वा पूर्वेषां नः स पूर्वजः ।  
सर्वसङ्गविनिर्मुक्तः समचित्तो बभूव ह ॥ ३३ ॥

हमारे पूर्वजोंके भी पूर्वज राजा यदु अवधूत दत्तात्रेयकी यह बात सुनकर समस्त आसक्तियोंसे छुटकारा पा गये और समदर्शी हो गये। (इसी प्रकार तुम्हें भी समस्त आसक्तियोंका परित्याग करके समदर्शी हो जाना चाहिये) ॥ ३३ ॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे

अवधूतगीतायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

॥ अवधूतगीता सम्पूर्णा ॥

